श्रमण-संस्कृति का उदात्त दृष्टिकोण

—प्रो० श्रीरंजन सूरिदेव

मानव-समाज में जब वैचारिक ह्रास आ जाता है, तब उसमें संकीर्णता का प्रवेश होता है और उसकी चिन्तनधारा का उदात्त दृष्टिकोण संशय के धुंधलके में दिग्भ्रान्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में विशेष रूप से जाति और धर्म ही संकीर्णता के प्रवेश-द्वार हुआ करते हैं। जाति और धर्म के प्रति दुराग्रह या हठाग्रह ही वैचारिक संकीर्णता को जन्म देता है। इस सन्दर्भ में श्रमण-संस्कृति का दृष्टिकोण इसलिए उदात्त है कि वह वैचारिक संकीर्णता का सर्वथा प्रत्याख्यान करती है।

श्रमण-संस्कृति और वैदिकसंस्कृति के बीच, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। ये दोनों संस्कृतियाँ चक्रगति के अनुक्रम से समय-समय अपनी सत्ता स्थापित करती रही हैं। जिस संस्कृति में जितनी अधिक वैचारिक उदारता रहेगी, उसकी सत्ता अपनी ही अविचल और लोकादृत होगी। अधुना श्रमण-संस्कृति के प्रति अत्यधिक लोकाग्रह का कारण उसकी वैचारिक उदारता ही है।

कोई भी संस्कृति मानव-जिजीविषा की पूर्ति के साधनों की प्राप्ति के उपायों का समर्थ निर्देश तभी कर सकती है, जब कि वह वैचारिक दृष्टि से अपने को कभी अनुदार नहीं होने देती। इसीलिए जनकल्याण के निमित्त वैचारिक उदारता की शर्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य मानी गई है। लोकमार्ग का नेतृत्व वही कर सकता है, जो विचार से उदार होता है और आचार की दृष्टि से 'आत्मनेपदी'। आचार की दृष्टि से जो केवल 'परस्मैपदी' होता है, उसका विचार या आचार कभी लोकग्राह्य नहीं होता। इसीलिए, सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति में आत्मचिन्तन को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है।

उदारवादी दृष्टि से यह स्पष्ट है कि आत्मचिन्तन का सम्बन्ध आत्मसंयम या आत्मनियन्त्रण या आत्मदमन से जुड़ा हुआ है। श्रमण तीर्थंकर भगवान महावीर ने आत्मदमन को बड़ा कठिन बताया है। उन्होंने कहा है :

अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ अस्सिं लोए परत्थ य॥

—उत्तरा० १।१५

निश्चय ही, दुर्दम आत्मा का दमन करने वाला व्यक्ति ही इस लोक और परलोक में सुखी होता है। आत्मदमन, आत्मपीड़न का पर्याय है। आत्मा के अनुकूल वेदनीयता सुख है और प्रतिकूल वेदनीयता दुःख। तीर्थंकर पुरुष चूंकि सर्वभूतहित के आकांक्षी होते हैं, इसलिए वे प्रतिकूल वेदनीयता पर विजय पाने के निमित्त आत्मदमन या आत्मपीड़न करते हैं। अर्थात्, परत्राण के लिए प्रतिकूल को अनुकूल बनाकर आत्मसुख अनुभव करते हैं और, सही अर्थों में उदार व्यक्ति वही होता है, जो परदुःख के विनाश के लिए आत्मदुःख के वरण करने में ही सुख का अनुभव करता है। इसीलिए, 'वसुदेवहिण्डी' के 'धम्मिल्लचरित' में धर्म की परिभाषा करते हुए संघदासगणिवाचक ने कहा है : **'परस्स अदुक्खकरणं धम्मोत्ति'**। इस प्रकार, सम्पूर्ण श्रमण-संस्कृति परदुःख के विनाशमूलक उदारता की उदात्त भावना से ओतप्रोत है।

भगवान् महावीर के पंचयाम धर्म में श्रमण-संस्कृति के उदात्त दृष्टिकोण का ही भव्यतम विनियोग हुआ है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँचों साधारण जन-जीवन को उदात्त दृष्टिकोण से संवलित करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले ऐसे विचार-बिन्दु हैं, जिनसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उपलब्धि सम्भव होती है और मोक्ष का मार्ग उद्घाटित होता है।

लोकैषणा या लोकहित श्रमण-संस्कृति के उदात्त दृष्टिकोण का महनीय पक्ष है। आधुनिक लोकदृष्टि इसलिए अनुदार हो गई है कि वह हिंसा, असत्य, चौर्यवृत्ति, कामलिप्सा और संचयवृत्ति से आक्रान्त है। अनुदारता ही संकीर्ण विचार की जननी है। आज के वक्रजड़ लोग दुर्व्याख्या के विष से मूच्छित हैं। आत्महित के लिए परहित का प्रत्याख्यान उनका धर्म हो गया है। आस-पड़ोस के जलते हुए घरों के बीच अपने घर को सुरक्षित समझने का प्रमाद ही उनका आत्मसंस्कार बन गया है। परदुःख के विनाश में आत्मसुख को सही न मानकर वे आत्मसुख को परदुःख का कारण बनाना उचित समझते हैं। श्रमण-संस्कृति इसी अनुदार दृष्टि के निर्मूलन के प्रयास के प्रति सतत् आस्थाशील है।

श्रमण-संस्कृति अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के उदात्त दृष्टिकोण की त्रिपुटी पर आधृत है। अनेकान्त की उदार विचारधारा श्रमण-संस्कृति का महार्घ अवदान है। अनेकान्त यदि वैचारिक उदात्त दृष्टिकोण का प्रतीक है, तो अहिंसा और अपरिग्रह आचारगत उदारता का परिचायक। श्रमण-संस्कृति का अहिंसावाद भी सीमित परिधि की वस्तु नहीं है। प्राणिवध जैसी द्रव्यहिंसा से भी अधिक व्यापक भावहिंसा पर श्रमण-संस्कृति बल देती है। उसका मन्तव्य है कि मूलतः भावहिंसा ही द्रव्यहिंसा का कारण है। यदि भावहिंसा पर नियन्त्रण हो जाय, तो फिर द्रव्यहिंसा का प्रश्न ही नहीं उठे। आज सामाजिक जीवन में भवहिंसा की प्रधानता से ही द्रव्यहिंसा होती है और यही फिर भयंकर युद्ध और भीषण रक्तपात में परिणत हो जाती है।

जाति और धर्म की भावना में संकीर्णता आने पर हिंसा का उदय स्वाभाविक है। इस स्थिति में पुण्य की परिभाषा परोपकार न होकर सामान्य वैयक्तिक पूजा-पाठ में ही निःशेष हो जाती है। जात्यभिमान हमें अधःपतन की ओर ले जाता है और इससे हम मानवता का निरादर कर बैठते हैं। इसीलिए, भगवान महावीर ने कर्मणा जाति की परिभाषा प्रस्तुत करते हुआ कहा—

कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

—उत्तरा० २५।३३

अहिंसावाद पर अनास्था के कारण ही आज के समाज में जातिगत हीनभावना का विस्तार हो रहा है। जाति के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण उदात्त नहीं रह गया है। हम इसीलिए, ऊँच-नीच, छुआछूत आदि के घेरे में बन्दी बनते जा रहे हैं। श्रमण-संस्कृति दुरभिमान को चुनौती देती है और सघोष उद्घोषणा करती है: **"मेत्ती मे सव्वभूएसु।"**

सामाजिक अवधारणा के सन्दर्भ में अपरिग्रहवाद भी श्रमण-संस्कृति के उदात्त दृष्टिकोण का परिचय प्रस्तुत करता है। अपरिग्रह का तात्पर्य धन के प्रति स्वामित्व की भावना का परित्याग है। अनावश्यक संचय से सामान्य लोक-जीवन को कष्ट पहुँचता है। घूसखोरी, जमाखोरी, मिलावट, तस्करी आदि का व्यापार परिग्रह वृत्ति का ही जघन्यतम रूप है। हम धन से दूसरे की सहायता करते भी हैं, तो स्वामित्व की भावना रखकर ही। स्वामित्व की भावना का त्याग हम नहीं कर पाते। इससे अपरिग्रह का सही रूप तिरोहित ही रह जाता है। और फिर, हम संकीर्ण भावना से ऊपर नहीं उठ पाते, हमारा वैचारिक दृष्टिकोण उदात्त नहीं हो पाता। श्रमण-संस्कृति अपरिग्रह के माध्यम से हमें उदात्त दृष्टिकोण प्रदान करती है, जिससे हमारे अन्तर्मन में सर्वोदय की भावना का संचार होता है और जनमानस ग्रहण की संकीर्ण भावना से त्याग की उदात्त भूमि की ओर अभिमुख होता है।

श्रमण-संस्कृति का अनेकान्त उसकी उदात्त दृष्टि का एक ऐसा प्रकाशस्तम्भ है, जिससे सम्पूर्ण विश्व का जीवन-दर्शन आलोकित है। अनेकान्तवाद, जनसमुदाय को दुराग्रहवादिता की संकीर्ण मनोवृत्ति से मुक्त होने की प्रेरणा देता है। दर्शन के क्षेत्र में या फिर जीवन के व्यावहारिक जगत् में व्याप्त श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ की भावना के व्यामोह का विलोप अनेकान्त से ही सम्भव है। नीर-क्षीर-विवेक की सम्प्राप्ति एकमात्र अनेकान्त से ही हो सकती है। सत् के प्रति आसक्ति और असत् के प्रति वैराग्य अनेकान्त की भावना से ही आता है।

भाषिक शुद्धि की दृष्टि से स्याद्वाद और वैचारिक शुद्धि की दृष्टि से अनेकान्तवाद की स्थापना श्रमण-संस्कृति की उदात्तता का ही पार्यन्तिक रूप है। आज हम किसी वस्तु को एकान्त दृष्टि से सत्य मानने का भ्रम पालते हैं। किन्तु, अनेकान्तवाद इस भ्रम को दूर करता है। किसी वस्तु को हम एकान्त दृष्टि से सत्य मानकर अपनी अनुदात्त दृष्टि का ही परिचय देते हैं। कोई भी मानव एकान्त भाव से पूर्ण नहीं होता। यदि हम किसी दर्शन के तत्त्वज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को ही पण्डित मान लेते हैं, तो यह एकान्त दृष्टि हुई। सम्भव है, उस पण्डित को सांख्यिकी में तत्त्वज्ञता प्राप्त नहीं हो, तो फिर उसे एकान्तभाव से पण्डित कहना उचित भी नहीं। अनेकान्त दृष्टि से दर्शन की अपेक्षा यदि वह पण्डित है, तो सांख्यिकी की अपेक्षा पण्डित नहीं भी है। इसी विचारधारा के आधार पर अनेकान्त में **'सप्तभंगी न्याय'** की प्रतिष्ठा हुई है। इस न्याय के द्वारा हम एकान्त से अनेकान्त की ओर प्रस्थान करते हैं, जहाँ हमें सम्पूर्ण जागतिक स्थिति का सही अभिज्ञान प्राप्त होता है और उदात्त दृष्टिकोण से संवलित होने का अवसर मिलता है। सर्वधर्म-समन्वय की समस्या का समाधान भी अनेकान्त ही दे सकता है।

ज्ञान और दया श्रमण-संस्कृति के मेरुदण्ड हैं। ये दोनों ऐसे दिव्य तत्त्व हैं, जिनमें उदात्त दृष्टिकोण का अपार सागर तरंगित होता रहता है। कोई भी ज्ञानी पुरुष अनुदार नहीं हो सकता और किसी भी दयालु की विचार-धारा संकीर्ण नहीं होती। किन्तु, दया की भावना का उदय बिना ज्ञान के सम्भव नहीं। इसीलिए, जिनवाणी की मान्त्रिक भाषा है: **'पढमं णाणं तओ दया।'** श्रमण-संस्कृति में ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है। ज्ञान भी ऐसा, जो स्व और पर को समान रूप से आभासित करे और उसमें किसी प्रकार की बाधा-व्यवधान न हो। इसीलिए **आचार्य सिद्धसेन** ने कहा है: **'प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।'** उदात्त दृष्टिकोण के लिए ज्ञान का होना अनिवार्य है और ज्ञान का क्रियान्वयन दया-भावना से ही सम्भव है। ज्ञान की ही सक्रिय अवस्था दया है। ज्ञान की सक्रियता के लिए दया अनिवार्य है। कहना चाहिए कि ज्ञान और दया दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसीलिए, अनन्तज्ञान से सम्पन्न तीर्थंकर 'दयालु' या 'कल्याणमित्र' की संज्ञा से सम्बोधित हुए।

ब्रह्मचर्य की व्याख्या में भी श्रमण-संस्कृति ने उदार दृष्टिकोण से काम लिया है। अन्यत्र जहाँ **'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'** का कठोर निर्देश मिलता है, वहीं श्रमण-संस्कृति ने **'स्वदार सन्तोषित्व-व्रत'** को ब्रह्मचर्य का दरजा दिया है। आज ब्रह्मचर्य के नाम पर उन्मुक्त यौनमेध का जो नग्न ताण्डव दृष्टिगत होता है, उसका संयमन 'स्वदार सन्तोषित्व-व्रत' से सहज ही सम्भव है। एकमात्र अपनी पत्नी में ही सन्तोष के व्रत का पालन किया जाय, तो कामोष्मा से प्रतप्त आधुनिक समाज में संयम के स्वर्गिक सुख की अवतारणा हो जाय।

श्रमण-संस्कृति अपने उदात्त दृष्टिकोण के कारण ही व्यष्टिगत धारणा की अपेक्षा समष्टिगत धारणा के प्रति आग्रहशील है। वह **'भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्ति'** के सिद्धान्त का समर्थन करती है। वह प्रमा **(तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं)** पर आस्था रखती है, बाहरी चाकचिक्य को नकार देती है। वह सिद्धान्तों के भटकाव की स्थिति नहीं उत्पन्न करती। वह तो जीवन को सन्त्रास, कुण्ठा, अनास्था, विसंगति आदि दुर्भावनाओं के घात-प्रतिघातों से बचने को प्रेरित करती है, ताकि मानव अपनी मानवता की चरम परिणति के सुमेरु पर विराजमान हो सके, सिद्धशिला पर आसीन हो सके।

आज का मानव नितान्त परिग्रही हो गया हो। उसने अपने इर्दगिर्द अनेक आडम्बर चिपका रखे हैं। अज्ञानता और दयाहीनता के कारण वह अनपेक्षित आभिजात्य भावना में पड़कर मानवता की गरिमा से परिच्युत हो गया है। वह बाह्य जगत में अकर्म को कर्म और कर्म को अकर्म मान बैठा है। भौतिकता से अतिपरिचय के कारण वह आध्यात्मिकता की अवज्ञा कर रहा है। उसका कोई भी कथन न तो सुचिन्तित होता, न ही वह कोई सुविचारित कार्य कर पाता है। कुल मिलाकर, आधुनिक मानव-समाज में आत्मप्रदर्शन की मिथ्या गतानुगतिकता की ऐसी लहर छा गयी है कि वह सिवाय दूसरे का छीनने के आलावा और कुछ सोच ही नहीं सकता। श्रमण-संस्कृति ने इसीलिए अस्तेय-भावना को सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठा दी है।

ईशोपनिषद् की **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'** जैसी सामाजिक भावना को उद्बुद्ध करने वाली चेतावनी को आज के मानव ने नजरन्दाज कर दिया है, इसीलिए उसमें चौर्यवृत्ति आ गई है। आत्मधन की अपेक्षा परधन के प्रति तृष्णा से वह निरन्तर आकुल-व्याकुल हो रहा है। फलतः उसके संयम का चाबुक बेकार हो गया है और इन्द्रियों के घोड़े बेलगाम हो गये हैं। उसके जैसा कामगृध्न व्यक्ति काम से ही काम को शान्त करना चाहता है। घी से आग को ठण्डा करना चाहता है! और, इसके लिए वह चौर्यवृत्ति से ही अपने सुख-सन्तोष की सामग्री जुटाने में प्रबल पुरुषार्थ मान रहा है और हिंसा तथा मिथ्यात्व के प्रति एकान्त आग्रहशील हो उठा है।

सारस्वत जगत में भी आज अजीब छीना-झपटी चल रही है। गीता की **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'** की चेतावनी भी उसे याद नहीं रह गयी है। फलतः, उसकी जिन्दगी की गाड़ी समतल सड़क को छोड़कर ऊबड़-खाबड़ रास्ते में दौड़ पड़ी है। कृत्रिम पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध में पड़ उसने अपनी सहज पौरस्त्य संस्कृति की उपेक्षा कर दी है। यहाँ तक कि अपनी भाषा और साहित्य को भी वह मूल्यहीन मानने लगा है। उसके मूल्यांकन की तुला ही अभारतीय हो गयी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यही कारण है कि आधुनिक मानव विभिन्न मतवादों और साम्प्रदायिक रूढ़ियों की वात्या में विलुण्ठित हो रहा है। उसका अपना ज्ञानबोध अहंकार के अँधेरे में डूब गया है। ऐसी स्थिति में श्रमण-संस्कृति के पंचयाम धर्म की प्रोज्ज्वल प्रभा उसके तिमिरावृत हृदय को भास्वर बना सकती है। उसके दिग्भ्रष्ट जीवन-पोत के लिए अनेकान्तजय-पताका दिशासूचक यन्त्र का काम कर सकती है। क्योंकि, श्रमण-संस्कृति के पंचयाम धर्म में मानव की चेतना को अनावश्यक आग्रह से अलग कर अपेक्षित अनाग्रह के ज्योतिष्पथ की ओर ले चलने की अपरिमित शक्ति है। कहना न होगा कि श्रमण-संस्कृति में जीवन के विधायक अनेक महत्त्वपूर्ण पक्ष—जैसे अवर्णवाद, धार्मिक आचरण के नाम पर हिंसा एवं परिग्रहमूलक आडम्बरों का प्रतिक्षेप, सैद्धान्तिक मतों का समन्वय, सामाजिक जीवन में समतावाद की स्थापना के द्वारा स्त्री-पुरुषों के लिए समान प्रगति की योजना, अधिक धन का प्रत्याख्यान और प्राप्त धन का स्वामित्व-हीन समान वितरण, पूंजीवाद का विरोध, ऊँच-नीच और स्पृश्यास्पृश्य जैसी समाजोत्थान-विरोधी भावना का निराकरण आदि—प्रतिनिहित हैं, जिनसे उसके उदात्त दृष्टिकोण का प्रत्यक्ष परिज्ञान प्राप्त होता है।

श्रमण-संस्कृति में श्रमण, ब्राह्मण, मुनि और तापस के लिए किसी निर्धारित वेश-विशेष की आवश्यकता नहीं। भगवान महावीर ने इनकी परिभाषा उपस्थित करते हुए निर्देश किया है :

न वि मुण्डिएण समणो न ओंकारेण बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेणं कुसचीरेण न तावसो॥
समयाए समणो होइ बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होइ तवेणं होइ तावसो॥

—उत्तरा० २५।३१-३२

निस्सन्देह, केवल सिर मुँड़ा लेने से कोई श्रमण नहीं होता, न ही ओंकार के जप से ब्राह्मण। जंगल में रहने से ही मुनि नहीं होता और न कुश तथा चीवर धारण करने से तपस्वी। वस्तुतः, जो समता से सम्पन्न है, वही श्रमण है, ब्रह्मचर्य का उपासक ही ब्राह्मण है, ज्ञानी ही मुनि है और तप करने वाला ही तपस्वी।

इस प्रकार श्रमण-संस्कृति ने प्रत्येक व्यक्ति को उत्थान के मार्ग का अधिकारी घोषित किया है। अपनी साधना से सर्वसामान्य व्यक्ति भी पारमैश्वर्य की सिद्धि सुलभ कर सकता है। श्रमण-संस्कृति ने ईश्वर के कर्तृत्व को नकारते हुए मानव के अजेय पुरुषार्थ के प्रति अडिग आस्था अभिव्यक्त की है। आत्मशक्ति के प्रति अविश्वास हो जाने के कारण ही वह किसी पारमेश्वरी शक्ति की कल्पना कर उसके प्रति समर्पित हो जाता है। परवर्त्तीकालीन भक्त कवि चण्डीदास की प्रसिद्ध काव्य-पंक्ति—'**सबार ऊपरे मानुस सत्य**' में श्रमण-संस्कृति का ही उदात्त दृष्टिकोण समाहित है।

श्रमण-संस्कृति के उदात्त विचारप्रधान दार्शनिक चिन्तन ने राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को भी अनुकूलित किया था और गांधीजी के प्रसिद्ध ग्यारह व्रतों में प्रारम्भ के पाँच व्रत भगवान महावीर के ही पंचयाम धर्म से आकलित हैं। कहना यह चाहिए कि महात्मा गांधी का जीवन-दर्शन श्रमण-संस्कृति के जीवन-दर्शन का ही परवर्त्ती व्यापक विस्तार है, जिसकी उदात्त विचारधारा परम्परानुक्रम से विकसित होकर आज की सामाजिक एवं आर्थिक अभ्युत्थानुमूलक राष्ट्रीय योजना बिंशसूत्री कार्यक्रम से आ जुड़ी है। इसलिए; यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि राष्ट्रीय अभियान के प्रत्येक पड़ाव पर या सामाजिक जीवन के हर मोड़ पर प्रगति और उत्कर्ष का मन्त्र फूँकने वाली श्रमण-संस्कृति को किसी विशिष्ट देश, काल, आयु, नाम, गोत्र आदि की सीमा में रखकर देखने की अपेक्षा सम्पूर्ण विश्व के सन्दर्भ में मंगलकारी उदात्त दृष्टिकोण का ही पर्याय समझना समीचीन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org